
इकाई 4 सिनेमा और रंगमंच : अनुवाद के संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
 - 4.1 प्रस्तावना
 - 4.2 सिनेमा का विकास
 - 4.3 सिनेमा का अनुवाद के साथ संबंध
 - 4.4 रंगमंच का परिचय
 - 4.5 रंगमंच की परिभाषा
 - 4.6 भारत में रंगमंच का विकास
 - 4.7 रंगमंच और अनुवाद
 - 4.8 रंगमंच और सिनेमा का तुलनात्मक अध्ययन
 - 4.9 सारांश
 - 4.10 अभ्यास के लिए प्रश्न
 - 4.11 शब्दावली
 - 4.12 कुछ उपयोगी प्रश्न
-

4.0 उद्देश्य

- सिनेमा के विकास का परिचय;
 - सिनेमा किस प्रकार भाषा, समाज और संस्कृति को अनूदित करता है; इसकी जानकारी देना;
 - रंगमंच की अवधारणा से परिचय;
 - रंगमंच के विकास की जानकारी प्रदान करना;
 - रंगमंच और अनुवाद के संबंधों का परिचय;
 - रंगमंच और सिनेमा के तुलनात्मक संबंधों को स्पष्ट करना।
-

4.1 प्रस्तावना

सिनेमा और रंगमंच मनुष्य के विचारों तथा भावनाओं की अभिनय के माध्यम द्वारा अनुकरण होती है, दूसरे शब्दों में यह एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति की अंतःचेतना, इच्छा, आवश्यकता या फिर उसके मनः मस्तिष्क में बसने वाले संसार की प्रतिकृति होता है।

सिनेमा इस सदी में दृश्य-श्रव्य माध्यम का सबसे सशक्त माध्यम बनकर उभरा है, जिसमें वह क्षमता है जो मनुष्य के मस्तिष्क को प्रभावित करे, उसका मनोरंजन करे और उसे कुछ नया करने के लिए आन्दोलित भी कर सके। सिनेमा मनुष्य में सामाजिक जिम्मेदारी के अतिरिक्त कलात्मक अनुभूति के प्रवर्तन का श्रेष्ठ माध्यम है, जो कला और संस्कृति के साये में पलता-बढ़ता है।

मुख्य रूप से सिनेमा दृश्य बिंबों और ध्वनि संकेतकों को सामूहिक रूप से सेल्यूलॉयड के माध्यम से संप्रेषित करने की कला है। सेल्यूलॉयड के आगमन के प्रारंभिक चरण में पुडोवकिन, रोथा, आइंजेस्टाइन, ग्रिप्ससर्सन आदि जैसे

कुछ उत्साही निर्देशकों ने मानव-जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं को उजागर करने के लिए इसका उपयोग किया।

हर युग और बदलते परिवेश में समाज, सभ्यता और संस्कृति के साथ कई नई चीजें जुड़ती जाती हैं। आधुनिक समय में दुनिया के सर्वाधिक व्यापक और दिलचस्प कला माध्यम के रूप में सिनेमा का योगदान महत्वपूर्ण रहा था। महत्वपूर्ण इसलिए भी है क्योंकि अभिव्यक्ति तथा मनोरंजन के माध्यम के रूप में सिनेमा किसी भी समाज की पूरी संस्कृति से नियमित होता है और साथ ही वह समाज विशेष की पूरी संस्कृति का नियमन भी करता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सिनेमा ही वह माध्यम है जो अपनी पूरी सीमा लटता के साथ 'कम्यून' में अभिव्यक्ति होता है। हमने अपने अन्य इकाइयों में इसकी चर्चा की है कि सिनेमा किस प्रकार अन्य प्रचलित माध्यमों जैसे टेलीविजन और रेडियो से भिन्न और महत्वपूर्ण होता है?

इस इकाई में हम सिनेमा तथा अनुवादक के संबंध के साथ यह भी चर्चा करेंगे कि सिनेमा किस प्रकार अनुवाद का कार्य करता है और वह किस प्रकार भाषा, संस्कृति और समाज के साथ-साथ अनूदित भी होता चलता है? आइए पहले हम भारत और विश्व परिदृश्य में सिनेमा की विकास यात्रा पर एक नज़र डालें।

4.2 सिनेमा का विकास

20वीं सदी के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक तथा चिंतक जार्ज बर्नार्ड शॉ ने सिनेमा के शैलिक काल में ही अनुभव कर लिया था कि आविष्कार के रूप में सिनेमा प्रिंटिंग प्रेस से अधिक प्रभावी साबित हो सकता है क्योंकि यह समाज के शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही समुदाय को समान रूप से प्रभावित करने वाला माध्यम है। समाज को आधुनिकता और परिकार की ऊर्जा प्रदान करने वाली यह कला व्यक्ति की मानसिकता और आचरण पर खासा प्रभाव डालती है। सिनेमा मनुष्य की बौद्धिकता, चिंतन और व्यवहार को प्रभावित करने के अतिरिक्त उसमें समय-समय पर बदलाव लाता है। वास्तव में सिनेमा अपनी कथावस्तु का चयन भी समाज से करता है और उसका विकास भी समाज के अनुकूल ही करता है।

बदलते समय में समाज को प्रभावित करने वाली किसी भी कला के लिए प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है, क्योंकि समाज की वह हृद् सच्चाइयों को रूपायित करने तथा उसे व्यापक समाज तक पहुँचाने के लिए तकनीकी साझेदारी आवश्यक हो जाती है। इस तरह तकनीकी की साझेदारी से आधुनिकतम प्रौद्योगिकी का प्रयोग तथा विकास होता है। यह भी सच है कि कोई भी प्रौद्योगिकी अपने संपूर्ण रूप में किसी एक व्यक्ति की देन नहीं होती बल्कि किसी भी प्रौद्योगिकी का उपयोग तथा विकास सामूहिक रूप से एक सतत् प्रक्रिया के तहत होता है। विकास की इस प्रक्रिया के कई चरण होते हैं, जिसके पीछे इंसान की अदम्य क्षमता और बौद्धिकता का संगम होता है। सिनेमा का वर्तमान स्वरूप भी एक लंबी विकास प्रक्रिया का परिणाम रहा है। जिसकी हम शुरुआत थामस एडिसन के किनेटोस्कोप के आविष्कार से मान सकते हैं।

किनेटोस्कोप एक बक्से जैसा होता यंत्र होता था जिसे हम आज आम बोल चाल की भाषा में बाइस्कोप कहते हैं। एडिसन ने पहली बार उदीप्ति-चिराग की मदद से चल-तस्वीरें दिखाई थी। इसमें लोग एक छिद्र के सहारे किनेटोस्कोप में देखा करते थे। अब तो इसका प्रयोग बन्द हो गया है किंतु आज से चार दशक पहले तक मेलों तथा बाजारों में बाइस्कोप से चल तस्वीरें देखते थे। लेकिन किनेटोस्कोप की मुक्ति कल यह थी कि इसके सहारे एक बार में सिर्फ एक ही आदमी इसे देख सकता था। पर जैसा हम जानते हैं कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ मुक्तिले आसान होती जाती हैं। सन् 1895 में यही हुआ। रॉबर्ट डब्ल्यू पॉल ने अपने सहयोगी बर्ट एक्वेस के साथ मिलकर एक फिल्म-प्रक्षेपक (प्रोजेक्टर) का इजाद किया ताकि सिनेमा को समूह में दिखाया जा सके। यही वह समय था जब फ्रांस में ऑगस्ट और लूई लूमियर एक त्रय-यंत्र, का आविष्कार कर रहे थे, जिसे 'सिनेमेटोग्राफ' कहा गया। यूरोप के साथ-साथ अमेरिका में भी उस दौरान सिनेमा पर काम हो रहा था।

सिनेमा के इतिहास में यह एक मूक युग था। वास्तव में एडिसन ने ध्वनि-सिनेमा की ही कल्पना की थी लेकिन उसकी यह कल्पना सन् 1927 में ही आकर तब साकार हो पाई जब 'जैज सिंगर' आई। सन् 1895 से लेकर 1906 के बीच जहाँ एक ओर सिनेमा अपनी तकनीकी से जूझ रहा था, वहीं दूसरी ओर जल्दी ही यह महसूस किया जाने

लगा कि सिनेमा के माध्यम से अधिक पैसा तभी कमाया जा सकता है जब इसका सामूहिक प्रदर्शन किया जाए। किनेटोस्कोप जैसे यंत्र के माध्यम से यह संभव न था क्योंकि इसमें केवल एक व्यक्ति एक बार में देख सकता था। इसी मूल भाव ने एक बड़े स्तर पर सिनेमा के विकास को संभव बनाया। हालाँकि सालों तक सिनेमा टेन्ट हाउसों और मेलों में दिखाया जाने वाला माध्यम ही बना रहा। लेकिन जल्दी ही उनकी जगह स्टूडियो बनने लगे और निर्माता पेटेन्ट पर जोर देने लगे। तरह-तरह की तकनीक अपनाई जाने लगी और सिनेमा अपनी दोगुनी गति से भागने लगा।

रेल के विकास ने सिनेमा के विकास में बड़ा योगदान दिया था। चल-प्रभाव दिखाने के लिए फिल्म-निर्माता रेलगाड़ी का इस्तेमाल करने लगे। चलती गाड़ी के बाहर ही नहीं, अन्दर से भी तस्वीरें ली जाने लगीं, बल्कि कुछ उत्साही निर्माताओं तथा कैमरामैनों ने तो रेल के इंजन पर आगे कैमरा रख कर भी तस्वीरें लीं। इसे 'फैंटम राइड' कहते थे। 'द किस इन द टनेल' नामक फिल्म इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। सन् 1897 में रॉबर्ट डब्ल्यू पॉल ने पहली बार अपने कैमरे को एक त्रिपाद पर रखकर रानी विक्टोरिया की हीरक जयंती समारोह की अबाध तस्वीरें उतारीं। सिनेमा की विकास-यात्रा में यह एक बड़ी उपलब्धि थी।

धीरे-धीरे सिनेमा में नई युक्तियों की शुरुआत हुई। रॉबर्ट पॉल ने सिनेमा में एक महिला के गायब हो जाने जैसी चीज दिखाई जिसे 'स्टॉप मोशन' तकनीक कहा गया। वहीं जी.ए. स्मिथ ने 'डबल एक्सपोज़र तकनीक' का इजाद किया जिसके सहारे पर्दे पर भूत दिखाये गए। इसे 'घोस्ट इफेक्ट' का नाम दिया गया। स्मिथ ने इसी तकनीक का इस्तेमाल करके 'सांता क्लॉज' बनाई। स्मिथ के नाम एक और तकनीक दर्ज की जाती है जिसे प्रतिगामी तकनीक या रिवर्स मोशन फिल्म कहते हैं। इसी तरह एडविन पोर्टर और अल्बर्ट स्मिथ ने जहाँ ऐनिमेशन और कार्टून फिल्मों से समाज का परिचय कराया, वहीं डी. डब्ल्यू. ग्रिफिथ ने 'द डंकाडर्स रिफॉर्मेशन' जैसी फिल्म में अग्नि-प्रभाव और प्रकाश के विविध रूपों को पर्दे पर दिखाकर सिनेमा-प्रेमियों को चौंकाया। लेकिन इन सब में सबसे महत्वपूर्ण था वृत्तान्त-कथा सिनेमा का आगमन। 'द लाइट ऑफ जीजस क्राइस्ट' में पहली बार वृत्तान्त-कथा तकनीक का इस्तेमाल किया गया। सिनेमा किसी कहानी पर बनाया जा सकता है या कोई सिनेमा एक कहानी भी हो सकता है, इस तकनीक की शुरुआत करने का श्रेय ग्रिफिथ को जाता है। सिनेमा में प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा तकनीकी विकास की लंबी अनवरत कहानी है जिसमें बाद के वर्षों में सिनेमा में विविध प्रयोग हुए और आज तक हो रहे हैं। कहानी, दृश्य, गति, नाटक, संवेदना, मानवीय-भाव, संवाद, संवाद-कला और दृश्य-बिम्बों के संगम के साथ प्रस्तुत होकर सिनेमा ने मनोरंजन के विश्वपरिदृश्य पर एक क्रांति ला दी।

सन् 1913 तक ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, अस्ट्रेलिया आदि में सिनेमा अबाध गति से विकास करता रहा लेकिन 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत हो जाने के कारण यूरोप में सिनेमा-निर्माण दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से बाधित हुआ। दूसरी ओर, थॉमस एडिसन द्वारा अपनी तकनीक के पेटेंट करा लेने के कारण सिनेमा-निर्माण में रुचि रखने वाले ज्यादातर लोग दक्षिणी कैलिफोर्निया को पलायन कर गए। इस तरह सिनेमा-निर्माण का एक नया केंद्र निर्मित होने लगा जिसे हम सब आज हॉलीवुड के नाम से जानते हैं।

भारत में भी सिनेमा की शुरुआत विश्व-सिनेमा के लगभग साथ-साथ ही हुई थी लेकिन बाद के वर्षों में भारत में सिनेमा के विकास की गति दो विश्व युद्धों और स्वतंत्रता संग्राम में भारत के उलझ जाने के कारण बाधित हुई। फिर भी, आज भारत विश्व का सबसे बड़ा फिल्म उत्पादक देश है। भारतीय सिनेमा की शुरुआत कुर्ती के मैच और बंबई के हैंगिंग गार्डन की फिल्म तैयार करने के लिए हुई थी। भारत में थियेटर की एक लंबी परंपरा रही है इससे सिनेमा को यह लाभ भी हुआ कि रंगकर्मी तथा श्रोता वर्ग मौजूद था पर इसीकरण इसलिए भारत में सिनेमा को उद्योग बनने में एक लम्बा समय लग गया था। आगे इसी अध्याय में हम थियेटर के विकास पर भी एक नज़र डालेंगे। धीरे-धीरे सिनेमा को भारत में बहुत जल्दी ही थियेटर के स्थापनापन्न के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था यह और बात है कि सिनेमा कभी भी थियेटर का विकल्प नहीं बन पाया। लेकिन यह कहा जा सकता है कि कला-फिल्में अवश्य ही 'सेल्यूलॉयड' का एक सक्षम प्रतिद्वंद्वी बन कर उभरीं। सन् 1896 में पहली बार बंबई में हरि चन्द्र भाटवाडेकर ने और कलकत्ता में हीरालाल सेन ने सिनेमा का प्रदर्शन करके भारत में सिनेमा की शुरुआत की। सन् 1913 में पहली बार दादा साहेब फाल्के ने फिल्म 'लव ऑफ क्राइस्ट' की तर्ज पर भारत में 'हरि चन्द्र' बनाई। यह मूक फिल्म थी। जो आश्चर्यजनक रूप से बॉक्स ऑफिस पर हिट हुई।

बीसवीं सदी के बीस का दशक भारत के फिल्म उद्योग के लिए एक विकासमान दशक रहा। इस दशक के दौरान भारत ने ब्रिटेन से भी अधिक फिल्मों का निर्माण किया। बंगाल में पी. सी. बरुआ, गांगुली और देवकी बोस ने अपनी पहचान बनाई तो बंबई में चंदूलाल शाह, हिमांशु राय और शांताराम ने अपना परचम लहराया। यही वह समय था जब तमिलनाडु में के. सुब्रह्मण्यम जैसे लोग सिनेमा को समृद्ध करने में जुटे थे।

4.3 सिनेमा का अनुवाद के साथ संबंध

इस अध्याय में हम चर्चा कर रहे हैं कि सिनेमा किस प्रकार अनुवाद का कार्य करता है। इसके अलावा इस क्रम में हम यह भी देखेंगे कि वह किस प्रकार भाषा, समाज और संस्कृति के द्वारा अनूदित होता चलता है। सिनेमा इन तीनों अर्थात् भाषा, समाज और संस्कृति की बनावट और बुनावट में गहरी हिस्सेदारी निभाता है। इस संदर्भ में बेंजामिन ली वार्फ कहते हैं, “कोई भी भाषा संस्कृति के सन्निहित तत्वों के बिना अर्थहीन होती है, ठीक उसी तरह कोई भी संस्कृति अपनी प्राकृतिक भाषा की संरचना को केंद्र में रखे बगैर अस्तित्वहीन सी ही दिखती है।” अर्थात् भाषा किसी भी संस्कृति की अंतरात्मा होती है बल्कि यूँ कहें कि यह इन दोनों अर्थात् समाज तथा संस्कृति के बीच का एक संवाद है, तथा जीवन की ऊर्जा में सतत प्रवाहित होती रहती है। इसके लिए उदाहरण स्वरूप बेंजामिन ली वार्फ कहते हैं कि जैसे एक शल्य चिकित्सक, बायपास सर्जरी करते हुए शरीर के अन्य भागों को नजर अंदाज नहीं कर पाता उसी तरह एक अनुवादक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अनुवाद की प्रक्रिया से गुजरते हुए पाठ संबद्ध समाज और संस्कृति को नजर अंदाज ना करे। यहाँ यह कहना समीचीन है कि जब किसी भाषा विशेष से संबंधित सिनेमा अन्य भाषा में अनूदित होता है तो वहाँ भी संस्कृतियों का ऐसा ही सम्मेलन दृष्टिगोचर होता है। ‘आलम आरा’ के बाद जो बोलती फिल्में बनी थीं उनके उदाहरण से हम यह कह सकते हैं कि बांग्ला, मराठी, तमिल आदि की भाषिक संस्कृति ने हिन्दी सिनेमा पर गहरी छाप छोड़ी थी। 1935 में ‘न्यू थियेटर्स’ से जुड़े पी.सी बरुआ ने बांग्ला में ‘देवदास’ बनाई। बरुआ की ‘देवदास’ हिन्दी सिनेमा ही नहीं बल्कि भारतीय सिनेमा में एक निर्णायक फिल्म के रूप में स्थापित हुई। सिनेमा की तकनीक के साथ समाज और संस्कृति का उचित तालमेल ही उसे सफल बनाता है, फिर भाषा तो स्वतः अपना योगदान दे देती है। यही कारण है कि 1936 के दौर में मराठी में बनी ‘फिल्म ‘संत तुकाराम’ पहली भारतीय फिल्म थी जो अंतरराष्ट्रीय चर्चा और सम्मान पा सकी। वी.दामले और एस. फत्तेलाल के संयुक्त निर्देशन में बनी यह फिल्म महाराष्ट्र के समाज और संस्कृति की गहरी उपज थी। कहा जा सकता है कि समाज, संस्कृति और भाषा के अतिरिक्त अगर कोई तत्व है जो फिल्म की सफलता में केंद्रीय भूमिका निभाती है वह है-मानवीय संवेदना। इसका उदाहरण 1969 में बनी मृणाल ‘सेन की भुवन सोम’ (हिन्दी) थी। इस फिल्म की भाषा हिन्दी थी, समाज और संस्कृति गुजरात की थी, कहानी बंगला थी और मिजाज गैर-हिन्दी भाषी था, परंतु फिल्म सफल रही। अनुवाद का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। हिन्दी भाषा की कई उत्कृष्ट फिल्में, तमिल भाषी फिल्मों से अनूदित हैं, जो अपनी प्रासंगिकता को सिनेमाई पर्दे से लेकर अंतरराष्ट्रीय जगत तक स्थापित करती हैं। तमिल में मणिरत्नम् जैसे प्रतिभावान दिग्दर्शकों ने आधुनिक, सशक्त और उच्च कल्पनाशीलता से समृद्ध सिनेमा की नींव रखी। असमिया में (जानू बरुआ), गुजराती में केतन मेहता (मानवी नी भवाई), उड़िया में नीरद महापात्र (इमामी निंगथेम) जैसी फिल्म प्रतिभाओं ने फिल्म को समाज और संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित किया।

सिनेमा ने समाज और संस्कृति को जहाँ भी अनूदित करने की कोशिश की भाषा कभी भी बाधक नहीं बनी। यहाँ कबीर की यह पंक्ति प्रासंगिक हो उठती है कि “संस्कीरत है कूप जल भाखा बहता नीर”। अर्थात् संस्कृत कुएँ के पानी की तरह है तथा भाषा बहता पानी है सिनेमा प्रचलित भाषा का प्रयोग तो करता ही है पर भारतीय सिनेमा को ‘एलीपत्तायम’, ‘स्वयंवरम्’, ‘मुखामुखम्’, ‘अनंतरम्’, ‘विधेयन’, ‘मतिलुकल’ जैसी विचार प्रधान फिल्में देने वाले दक्षिण भारतीय फिल्मकार अडूर गोपाल कृष्णन् का मानना है कि सिर्फ भाषाई आधार पर फिल्मों की आलोचना को व्यर्थ है। इसलिए अडूर हिन्दी से अलग दूसरी भाषा की फिल्मों को ‘क्षेत्रीय सिनेमा’ कहने को ‘क्रूड’ या अविश्वसनीय मानते हैं। यही कारण है कि अडूर गिरीश कनार्ड, ऋत्विक् घटक, श्याम बेनेगल, गिरीश कासरवल्ली, सत्यजीत रे आदि की फिल्मों को कला और लोकप्रिय सिनेमा के दो वर्ग में बाँटने का विरोध करते हैं और वे हमेशा इस फासले को पाट कर चलते हैं।

जब किसी भी फिल्म का अनुवाद अन्य भाषा में होता है तो उसका परिदृश्य व्यापक हो जाता है। यहाँ यह कहना समीचीन है कि सिर्फ भाषाई आधार पर उसका अनुवाद हास्यास्पद हो सकता है। यही कारण है कि सिनेमा जब अनुवाद की प्रक्रिया से गुजरता है तो उसकी रचनात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक जिम्मेदारियाँ और भी बढ़ जाती हैं। रोमन याकोब्सन के अनुसार अनुवाद के अंतर्गत सिर्फ रचनात्मक पक्षांतरण ही संभव हो सकता है। उनके अनुसार कोई भी रचना जब अनूदित होती है तो संकेतकों को पक्षांतरित करती है। उनका मानना है कि कोई भी अनुवाद तभी सफल माना जाता है जब वह पक्षांतरण और भाषान्तरण के अतिरिक्त अजनबी संकेतकों को लक्षित परिवेश के चिन्हों में परिवर्तित कर सके। जैकोबसन, बेंजामिन ली की तरह यह मानने को तैयार नहीं हैं कि एक परिवेश के चिह्न दूसरे परिवेश के संकेतकों का स्थानापन्न होते हैं बल्कि वे कहते हैं कि दो विविध संस्कृतियों से आए हुए चिह्न एक समान तो प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन एक रूप नहीं हो सकते। परन्तु, तमाम ग्राम परिस्थितियों के बावजूद आज भी फिल्में अनूदित हो रही हैं और भविष्य में भी अनूदित होती रहेंगी। इसका कारण सर्वविदित है सिनेमा दृश्य-श्रव्य माध्यम की सबसे ताकतवर माध्यम है, क्योंकि इसके पास मनोरंजन ही नहीं बल्कि सूचना, शिक्षा प्रदान करने की क्षमता के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन करने की क्षमता भी होती है। पश्चिमी देशों में भी सिनेमा को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम माना गया है। उदाहरण स्वरूप 1934 में बनी बेसिल राइट की फिल्म 'सांग ऑफ सीलोन' को ले सकते हैं, जो अपने देश की संस्कृति, धर्म, कला, और यहाँ तक की आर्थिक स्थिति की पड़ताल भी करती है। यह फिल्म इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ सर्वत्र काव्यात्मक अनुभूति का विस्तार है, जो अभिव्यक्ति को और भी सशक्त बनाती है। साथ ही यह फिल्म औपनिवेशिक शासन की कुरुपता को भी सार्थक तरीके से उजागर करती है।

एक सिनेमा कथा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त मानवता को भी अभिव्यक्ति प्रदान करती है और उसका गठन नवीन तरीके से करती है इसलिए एक कला-माध्यम के रूप में सिनेमा की यह जिम्मेदारी होती है कि वह मनुष्य को उसकी पूरी मनुष्यता तथा कलात्मक अनुभूति के साथ अनूदित करे। जब हम कलाओं से सार्थक रिश्ता रखने वाली और संस्कृति के साथ कदमताल करने वाली फिल्मों की बात करते हैं तब हमारे समक्ष विविध विचारधाराओं को प्रतिनिधित्व करने वाली फिल्मों के नाम आते हैं। इन फिल्मों को समय-समय पर कई नाम दिए गए हैं जैसे यथार्थवादी फिल्म, कलात्मक फिल्म, समानांतर फिल्म, नई धारा की फिल्म, व्यावसायिक फिल्म, अव्यावसायिक फिल्म, सुरुचिपूर्ण फिल्म आदि-आदि। इन सब प्रकार की फिल्मों में समाज और संस्कृति का अनुवाद करने हेतु सहजता, यथार्थपरकता, संवेदनशीलता, कल्पनाशीलता, गतिशीलता तथा काव्यमयता के अतिरिक्त मानवीय और सामाजिक परिष्कार की जरूरत होती है। यही कारण है कि कला फिल्मों का उपयोग सामाजिक विकृति के खिलाफ हुआ। कला फिल्मों का क्षेत्र ही ऐसा है जहाँ अत्यंत सशक्त और प्रगतिवादी फिल्में बनीं। 'दामुल' या 'अंकुर' जैसी फिल्मों ने भारतीय जन-जीवन के यथार्थ को उसकी भयावहता और संघर्षशीलता को योग्य ढंग से प्रस्तुत किया जिससे आमजन के प्रति सहानुभूति चित्रित हुई।

सिनेमा द्वारा सामाजिक यथार्थ के अनुवाद का प्रयास विश्व सिनेमा जगत के जिन दिग्गजों ने किया उनमें - ग्रिफिथ, आइजेंस्टाइन, चैप्लिन, ऑर्सन वैल्स, फेलीनो, बर्गमैन, कुरोसावा, तारकोवास्की, गोदार, सत्यजीत रे आदि प्रमुख हैं। एक गहरी नैतिक दृष्टि रे को अन्य से अलग करती है। उन्होंने दर्शक-वर्ग को अपना आदर्श माना और उन्हें केन्द्र में रखने की वकालत की। परन्तु उनकी यह मान्यता भी थी कि सीमित दर्शक वर्ग का भी बड़ा और सफल सिनेमा हो सकता है। परन्तु वे आदर्श और सफल फिल्मों हेतु फिल्म की आर्थिक दृष्टि से सफल होने को भी आवश्यक मानते थे। उनकी सफल फिल्मों में 'पथेर पांचाली' का नाम अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त है। यह फिल्म एक परिवार के भीतर घट रहे अंतरव्यक्तिक संबंधों की कथा है। जहाँ गरीबी, मृत्यु, सज्जन, विध्वंस सभी एक साथ चित्रित हुए हैं। परन्तु सभी कुछ अदृश्य सामाजिक परिवर्तन के साये में घटित होता है। फिल्म की विशेषता फोटोग्राफिक यथार्थ और भावुकता रहित विश्लेषण है। परन्तु, उत्कृष्ट फिल्मों में नामजद यह सिनेमा भावुकता और संवेदनशीलता से दर्शक को सींच देती है। यह एक बांग्ला फिल्म है परन्तु इसका सामाजिक परिदृश्य वैश्विक है। इसके अतिरिक्त सत्यजीत रे ने 'अपूर संसार', 'चारूलता', 'गोपी गायने बाघा बायने', 'सीमाबद्ध' और 'आगंतुक' जैसी उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण किया।

एक फिल्म जिसका सिनेमा और अनुवाद के संदर्भ में नाम लेना अत्यंत महत्वपूर्ण है, वह है फ्रांसीसी फिल्मकार गोदार की फिल्म 'श्वासरहित' (अंग्रेजी में 'ब्रेथलेस') जो 1956 में बनी थी और उसने पूरी दुनिया के फिल्मकारों में सनसनी पैदा कर दी। इस फिल्म ने फिल्म-संस्कृति को नवीन तरीके से परिभाषित करने का प्रयास किया था। यह फिल्म जीवन और साहित्य के कभी न समाप्त होने वाले संबंध को उजागर करती है। विषय की नवीनता को दर्शकों के समक्ष पूरी बरीकी से अनूदित करने वाली इस फिल्म ने सिनेमाई संस्कृति के व्याकरण को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सिनेमा की भूमिका असरदार होगी तो संभव है कि मानवीयता नवीन और सार्थक रूप में अभिव्यक्त होगी। इन्हीं वजहों से कई बार ऐसी फिल्में बनती हैं जो मानवीयता, संस्कृति, भाषा और समाज को बचाने की पहल करती हैं। फ्रांसीसी फिल्मकार विम वेंडिस की फिल्म 'लिस्बन स्टोरी' एक ऐसी फिल्म है जिसमें फिल्म का नायक अनदेखे बिंबों और अनसुनी ध्वनियों की खोज में भटकता है। उसे लगता है कि सभी बिंबों और ध्वनियों को औद्योगिक सभ्यता ने ज़ट कर दिया है। यहाँ फिल्मकार ने व्यक्ति, समाज, मनुष्य और जीवन के किसी भी पक्ष को इस तरह प्रस्तुत किया है कि उसकी रचना गीलता दर्शक की अनुभूति और संवेदना में गहरे पैठ जाती है।

फिल्म के अनुवाद के क्रम में इस तथ्य पर अव्यय ध्यान दिया जाता है कि फिल्म का कथ्य सही तरीके से अनूदित हो रहा है या नहीं। क्योंकि कई फिल्मों में संवाद भिन्न होते हैं और ऐसी स्थिति में अनुवादक के ऊपर भाषिक परिकार की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। पोलिश फिल्मकार क्रिस्टोफर जानुसी की फिल्म 'वेयरएवर यू आर, इफ यू आर', एक ऐसी ही फिल्म है। इस फिल्म की नायिका मानसिक विक्षिप्तता की शिकार हो जाती है। फिल्म में द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व का माहौल है। युद्ध की काली छाया में जीती उस नायिका के संवादों का भिन्न भाषा में अनुवाद अत्यंत कठिन कार्य रहा था। फिर भी इसका अनुवाद करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखा गया था कि फिल्म की वास्तविक संवेदना को दर्शकों तक पहुँचाने में किसी भी प्रकार की छूट नहीं ली जा सकती है।

समाज और भाषा को अनूदित करने वाला सिनेमा संस्कृति के स्थायित्व तथा कभी आवश्यकता पड़ने पर उसके परिकार और सभ्यता को संवर्द्धित तथा अनुपासित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इन्हीं कारणों से जीवन के बुनियादी सवालों की पड़ताल करने के लिए सिनेमा की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। इस संदर्भ में 1944 में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हमफ्रेजेनिंग्स की फिल्म, 'अ डायरी फॉर टिमोथी' की चर्चा प्रासंगिक रूप से की जा सकती है। यहाँ टिमोथी एक बच्चों के रूप में आने वाली संघर्ष गील पीढ़ी का प्रतीक है। ब्रिटेन के वयस्क किस प्रकार विश्वयुद्ध के दौरान राष्ट्र को बचाने के लिए कटिबद्ध हैं ताकि देश बचा रह सके और टिमोथी बड़ा होते ही देश को सार्थक प्रतिनिधित्व और बेहतर दिशा में ले जा सके। फिल्मों के माध्यम से किए जाने वाले इस प्रयास को सिर्फ मनोरंजन मानकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे मानवता और सामाजिक बदलाव की दिशा में एक मील का पत्थर माना जा सकता है। 'जन मनोविज्ञान' को अनूदित करने वाली इस कला के व्यापक समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता है।

4.4 रंगमंच का परिचय

मनुष्य के विकास और कला के विकास के मध्य सदैव अन्योन्याश्रित संबंध रहा है। इसमें रंगमंच एक ऐसी विधा रही है जिसने मनुष्य के भावनात्मक प्रकटीकरण को एक आयाम प्रदान करने का कार्य किया है। कहना न होगा कि इस विधा ने भाषा, समाज और संस्कृति के विकास में एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाई है। इस इकाई में हम भारतीय रंगमंच के विकास से परिचित होंगे। साथ ही इसकी भी जाँच करेंगे कि रंगमंच किस प्रकार भाषा, समाज और संस्कृति का अनुवाद करता है।

4.5 रंगमंच की परिभाषा

रंगमंच एक ऐसी कला है, जहाँ प्रस्तुतीकरण का विशेष महत्व है। यह दर्शकों के समक्ष त्रिआयामी माध्यमों जैसे शब्द या आवाज, हाव भाव या क्रियाकलापों, स्थितियों अथवा स्थापनाओं द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली ऐसी कला-विधा है, जिसमें कहानी या जीवनानुभवों को विविध तरीके से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय रंगमंच की चर्चा भरतमुनि के बिना अधूरी है। भरतमुनि 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता हैं और उन्होंने पहली बार रंगमंच को एक सार्थक दशा और दिशा प्रदान की। उनके अनुसार-नाटक मानवीय हाव-भावों एवं उसकी लोकवृत्ति की अनुवृत्ति है।

रंगमंच की प्रासंगिकता समाज और सामाजिक मूल्यों के समान्तर सिद्ध होती है। रंगमंच, समाज से ही प्रेरणा लेता है और पुनः उसे समाज को वापस कर देता है। यह किसी कहानी या वास्तविक अनुभव के प्रकटीकरण और प्रस्तुतीकरण के लिए स्थितियों का निर्माण करता है, पात्रों को तैयार करता है और पूरी-की-पूरी घटना को उसका भावार्थ नष्ट किए बिना उसके मूल रूप में या थोड़े बहुत फेर-बदल के साथ समाज के समक्ष पूरी जीवंतता के साथ प्रस्तुत करता है,

4.6 भारत में रंगमंच का विकास

भारतीय रंगमंच के विकास तथा साहित्यिक का महत्वपूर्ण योगदान रहा है रामकथा तथा कृष्णकथा के साथ कौरवों व पाण्डवों की कथाओं ने रंगमंच के विकास में खूब योगदान किया। वाल्मीकी की 'रामायण' और वेदव्यास के 'महाभारत' की कथाओं के आधार पर रंगमंच एक नए रूप में पुष्पित और पल्लवित हुआ। भारतीय रंगमंच के विकास का आधार भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' है जिसे पश्चिम में अरस्तु के 'पोइटिक्स' के साथ विश्व में इस विधा का मानक ग्रंथ माना जाता है। आज से लगभग दो हजार साल पूर्व लिखे ग्रंथ के बाद निरंतर भारतीय रंगमंच का विकास होता चला आ रहा है।

भारतीय रंगमंच के इस विकास को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है-

1. शास्त्रीय चरण
2. परंपरागत चरण
3. आधुनिक चरण

शास्त्रीय चरण

शास्त्रीय चरण में नाटकों के लेखन और मंच पर उनके प्रस्तुतीकरण के लिए विभिन्न भाव-भंगिमाओं के निर्माण पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था। यही वह समय था जब संस्कृत नाटकों का विकास हुआ और इसके विकास में अ वधोष, विशाखदत्त, कालिदास, भास, हर्ष और शूद्रक ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने अपने नाटकों के विषय किवदंतियों, पुराणों, इतिहास, लोककथाओं इत्यादि से लिए। इससे इन दर्शकों को उन कथाओं का जीवंत आनंद लेने में सहूलियत होती थी, जिससे वे पहले से परिचित होते थे। इस चरण के प्रमुख नाटकों में कालिदास द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'अभिज्ञानशकुंतलम्' प्रसिद्ध हैं। 'मालविकाग्निमित्र' का विषय ऐतिहासिक है तथा 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के विषय पौराणिक हैं। इन तीनों नाटकों का आधार प्रेम था। कालिदास मन की मृदु भावनाओं के चितेरे थे। संस्कृत नाटकों में अश्वघोष द्वारा रचित 'सरिपुत्रप्रकरण' प्रथम था जिसके मूल में बौद्ध-दर्शन सन्निहित था। भाषा ने 'स्वप्नवासवदत्त' की रचना की तथा अपने नाटकों का आधार रामायण, महाभारत तथा प्राचीन ग्रंथों को बनाया। 'उत्तररामचरित' एवं 700 ई. में लिखा गया 'महावीर चरित' भवभूति के सर्वोत्तम नाटक थे। शूद्रक, हर्ष, विशाखदत्त, भास, कालिदास, भवभूति निस्संदेह छः ऐसे रचनाकार थे, जिन्होंने भारतीय रंगमंच के विकास में अपने लिखित नाटकों से अतुलनीय योगदान दिया। हर्ष की रचना 'रत्नावली' और विशाखदत्त की 'मुद्राराक्षस' को भी नाट्य ग्रंथों में विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

परंपरागत चरण

इस युग के नाटक मुख्यतः परंपराओं और मौखिक तौर-तरीकों पर आधारित थे। पीढ़ी-दर पीढ़ी सुनी सुनाई गई कथाओं का इस युग में मंचन शुरू हुआ और इसी युग में भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग नामों से लोकमंचों का उदय हुआ। लोगों ने अपनी परंपराओं को नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करना शुरू किया। इसमें नाटकों के प्रस्तुतीकरण हेतु गीत, नृत्य व संवादों का प्रयोग किया जाता था। ठीक उसी प्रकार जैसे शास्त्रीय चरण में किया जाता था। रामलीला, रासलीला, नौटंकीयों और इसी तरह के अन्य नाटक हर क्षेत्र

में परंपरागत रूप से लोकप्रिय हुए। इस क्रम में राजस्थान में 'ख्याल', मध्यप्रदेश में 'माँच', उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी', बंगाल में 'जात्र', गुजरात में 'भवाई' इत्यादि का उदय हुआ। इसी युग में कठपुतलियों के माध्यम से भी नाटकों का प्रस्तुतीकरण प्रारंभ हुआ। भारत में कठपुतलियों के नाच भी नाटक के रूप थे। 'पुतल नाच' (पश्चिमी बंगाल) और 'कुधेरी' (उड़ीसा) कठपुतलियों के नाच के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इन सबके अतिरिक्त रंगमंच के इसी युग में 'छाया रंगमंच' का भी विकास हुआ जो कठपुतली-कला के करीब तो थी पर इस अर्थ में थोड़ा भिन्न थे कि जहाँ कठपुतलियों के नाच में दर्शक कठपुतलियों की आकृतियाँ देख सकते थे, वहीं इस रंगमंच पर वे सिर्फ छायाकृतियाँ/छायाएँ प्रकाश के माध्यम से देख सकते थे। इस प्रकार के रंगमंच का प्रथम उल्लेख तमिल ग्रंथ 'शिलप्पदिकरम्' में मिलता है। पिशेल, ल्यूडर्स और विंटरनिट्ज जैसे कुछ पश्चिमी विद्वानों का यह मत है कि सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'महान्नाटक' विशेषकर छाया रंगमंच के लिए ही लिखा गया था। छाया-रंगमंच ज्यादातर उड़ीसा, केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में प्रसिद्ध हुए। इसमें दिखाए जाने वाले छाया-चित्र आमतौर पर श्वेत-श्याम होते थे पर तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में ये चित्र बहुरंगी भी होते थे।

आधुनिक चरण

भारतीय रंगमंच के विकास का आधुनिक चरण तब शुरू हुआ जब अंग्रेजों के आगमन के साथ भारतीय रंगमंच का पाँचवाँ चरण रंगमंच के साथ संगम प्रारम्भ हुआ। इन दोनों के सम्मिलन से रंगमंच का एक नया रूप सामने आया जो वास्तविक और प्राकृतिक प्रस्तुतियों पर आधारित था। आधुनिक रंगमंच ने विशेषकर यथार्थवादी, प्रायोगिक और जन से जुड़े वास्तविक मुद्दों को अपना कथ्य बनाया ताकि जीवन के प्राकृतिक तत्वों का ज्यादा गहराई से मंचन किया जा सके। स्वतंत्रता के बाद के राजनीतिक परिवर्तनों के साथ ही जनवरी 1953 में संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हुई और इसी के तहत राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना हुई। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक के रूप में इब्राहिम अल्काजी को नियुक्त किया गया। इब्राहिम अल्काजी का उदय साठ के दशक के ऐसे दौर में हुआ जब भारतीय भाषाओं में नाट्य-लेखन के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात हो रहा था।

धर्मवीर भारती, गिरीश करनाड, मोहन राकेश, विजय तेंदुलकर और बादल सरकार ने नाटक के क्षेत्र को विस्तृत, सशक्त और बहुरंगी बनाने में योगदान किया। धर्मवीर भारती का 'अंधायुग', गिरीश करनाड का 'ययाति,' और 'तुंगलक', मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' विजय तेंदुलकर का 'सुखाराम बाइंडर' और 'खामोश अदालत जारी है', बादल सरकार का 'हिरोशिमा' नाट्य क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनमें से प्रायः सभी कृतियों को मंच पर एक मौलिक ढंग से प्रस्तुत करके इब्राहिम अल्काजी ने नया नाट्य-विमर्श गढ़ा।

नाटकों के वाचन, पूर्वाभ्यास और रंगमंच को अल्काजी ने रंग प्रशिक्षण और रंगमंच दोनों हेतु अत्यंत आवश्यक माना। इसके अलावा रंगजगत में सेट डिजाइन, प्रकाश-परिकल्पना, वस्त्र-विन्यास से लेकर नाट्य प्रस्तुतियों के पोस्टर और ब्रोशयोर भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इस क्षेत्र की ओर भी सज्जनशीलता को बरकरार रखने की पहल सर्वप्रथम अल्काजी ने ही की थी।

इन तीनों चरणों में विभिन्न विकासक्रमों से गुजरते हुए भारतीय रंगमंच ने एक लंबी यात्रा तय की है और समकालीन रंगमंच को जन्म दिया है। अभी भारत में कई नाट्य मंडलियाँ, समितियाँ और अकादमी रंगमंच के विकास के लिए कटिबद्ध और कार्यरत हैं ताकि भारतीय रंगमंच को एक अंतर्राष्ट्रीय पहचान दिलाई जा सके। समकालीन परिप्रेक्ष्य में भी भारतीय रंगमंच ने अपनी जीवंतता को बरकरार रखा है और निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

4.7 रंगमंच और अनुवाद

रंगमंच में अनुवाद हमेशा से एक कठिन कार्य माना जाता रहा है। कोई रचना जब अनूदित होकर रंगमंच के रूप में आती है तो रंगमंच की तकनीकियों या अपनी शर्तों के कारण और रंगमंच के लक्षित दर्शकसमूह के कारण, या तो अपने मूल से विपथित हो जाती है, पर फिर वह लक्षित दर्शक-समूह तक उसी रूप में संप्रेषित नहीं हो

पाती है जिस रूप में संप्रेषित होना इसका मूल उद्देश्य होता है। चूंकि रंगमंच शब्दों और वृत्तांत-कथन तकनीक में अभिव्यक्त होने वाली कला है, इसीलिए जब एक अनुवादक किसी पाठ को रंगमंच के लिए रूपांतरण (एडाप्टेशन) करता है तो उसके समाने अनुवाद से संबंधित बहुत सारी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। ऐसे में, मूल पाठ और उसके रंगमंचीय पाठ में परिवर्तित होने की पूरी प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। इस पूरी प्रक्रिया की चर्चा हम आगे की इकाई में करेंगे। रंगमंचीय पाठ अन्य विधाओं के पाठ से इसलिए भिन्न होता है क्योंकि रंगमंच मौन की कला होता है। रंगमंच में बहुत सी चीजें मौन में अभिव्यक्त होती हैं, जहाँ कलाकार बगैर कुछ कहे, बहुत कुछ कह जाता है, जबकि कहानी, कविता आदि कलात्मक अभिव्यक्तियाँ अपने कथन में पूर्णता के साथ उपस्थित होती हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि रंगमंचीय अनुवाद भी सिर्फ भाषागत अनुवाद नहीं होता बल्कि परंपरा, समाज और संस्कृति का अनुवाद होता है। उदाहरण स्वरूप लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को ले सकते हैं। इनके नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य भावधारा का उत्कृष्ट समन्वय मिलता है। उनके नाटकों के कथानक भारतीय इतिहास एवं सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं से जुड़े होते हैं। इन कारणों से उनके नाटकों को समस्या प्रधान नाटकों की संज्ञा दी गई है। उनके यहाँ यथार्थ-जीवन की समस्याओं एवं स्त्री-पुरुष संबंधों का विश्लेषण और व्यक्ति तथा समाज के बीच हुए संघर्ष का चित्रण हुआ है। तीस के दशक (1933) में लिखे गए उनके नाटक- 'सन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' और 'सिंदूर की होली' आधुनिक जीवन की समस्याओं को बड़ी ही बारीकी के साथ उजागर करते हैं।

नाटक और अनुवाद के संबंध को उजागर करते हुए बेजामिन ली मानते हैं कि अनुवाद उस सोच और समझ का परिणाम होता है जिससे मूल पाठ निकला होता है। भाषान्तरण या पक्षान्तरण तो महज इसके कई सारे सन्निहित तत्वों में से एक तत्व है। ऐने ओबरफील्ड भी मानती हैं कि रंगमंच में मूल पाठ रंगमंचीय कार्यनिष्पादन को पृथक करके देखना भी एक असंभव कार्य दिखता है। वे उनके अनुसार रंगमंच और मूल पाठ के बीच वही द्वंद्वत्मक संबंध होता है जो संबंध भाषा और चलचित्र में होता है। ओबरफील्ड ने किसी साहित्यिक पाठ से रंगमंच और सिनेमा को कृत्रिम रूप से अलग करके किसी एक को उच्च साहित्यिक दर्जा देने की मुखालफत की हैं। उनके अनुसार अनुवाद अनुभूतियों को भी अनूदित करता है। ऐसे में, ऐने ओबरफील्ड का यह तर्क हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि सिनेमा और रंगमंच कई मायने में ठीक उसी तरह या कई बार उससे भी बेहतर तरीके से अनुभूतियों को अनुदित करते हैं, जितना कि कोई भी साहित्यिक रचना कर सकती है। ऐसे में किसी भी रंगमंच या सिनेमा के निर्देशक की जिम्मेदारी उस भाषा और साहित्य के प्रति और बढ़ जाती है जिससे कि अनूदित कला रूप चाहे रंगमंच हो या सिनेमा, अनूदित होकर आते हैं। संकेतकों के अंतरण और परिवर्तन की यह प्रक्रिया सतत् होती रहती है, जो रंगमंच और सिनेमा तथा साहित्यिक रचना, कविता, कहानी, उपन्यास के बीच चलती रहती है।

राबर्ट कॉरिगेन का मानना है कि किसी अनुवादक को वह स्वर सुनना चाहिए जो अनकहे भी अभिव्यक्ति हो रहा हो और उसे उस भाषा की उन छोटी-छोटी चेटाओं को भी आत्मसात करना चाहिए जो लिखित पाठ नहीं कह रहा होता है, लेकिन वह चुप्पियों में अभिव्यक्त होता रहता है। इस तरह रॉबर्ट कॉरिगेन अपने विचारों से बोगाटीरेव के अत्यंत निकट पहुँच जाते हैं जहाँ वे रंगमंच की भाषागत प्रणाली पर बात करते हैं। बोगाटीरेव कहते हैं कि रंगमंच की भाषागत अभिव्यक्ति वस्तुतः संकेतकों की संरचना होती है। यह केवल विमर्शों का संकेत नहीं बल्कि संकेतकों का विमर्श होती है। बोगाटीरेव इस विचार का भी समर्थन करते हैं कि रंगमंच के चरित्रों को अपनी सामाजिक परिस्थितियों और स्थितियों के अनुरूप अपनी चेष्टाओं को अभिव्यक्त करना चाहिए। ऐसे में, उन्हें अपने परिजनों और दृश्यगत वास्तविकताओं को भी सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करना चाहिए। यही बात राबर्ट कारिगेन भी कहते हैं। कहना ना होगा कि रंगमंच में अनुवाद की भूमिका को हम इस तरह समझ सकते हैं कि यह अन्य रूप में सामाजिक परिस्थितियों को चिह्नों में परिवर्तित करने की एक विधा है। मसलन, अनुवाद की प्रक्रिया से गुजरते हुए वास्तव में एक संकेतक अपनी सामाजिक परिस्थिति को किसी अन्य सामाजिक परिस्थिति के समदृश्य संकेतकों में परिवर्तित कर रहे होते हैं।

रंगमंच जाने-अनजाने मनुष्य की असीमित कल्पना को भी अनूदित करता है। कल्पना का तात्पर्य संवेदना, आवेग तथा अनंत तक फैली मनुष्य की इच्छाओं से है। यही कारण है कि नाटक में भारी-भरकम मंच-सज्जा या विशेष

आलोक व्यवस्था, नाटक के आलेख एवं अभिनेताओं की उत्कृष्ट अभिनय क्षमता के सामने गौण महत्व ही रखते हैं।

नाट्य रचनाएँ कई बार व्यंग्य के रूप में देशकाल की सभी परिस्थितियों को तीखे ढंग से अनूदित कर डालती हैं। ज्ञानदेव अग्निहोत्री की 'शुतुमुर्ग' ऐसी ही नाट्य रचना है जो समसामयिक राजनीतिक व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य करती है। सुप्रसिद्ध कथाकार और फिल्म लेखक कमलेश्वर कहते थे, "व्यंग्य के जिस स्तर पर नाटक की रचना हुई है वह नाटकों में एक महत्वपूर्ण दिशा का उद्घाटन है। नाटककार की अंतर्दृष्टि सब जगह गहराई में उतरी है और उसने मूल कथ्य को सघनता से पकड़कर समय के अभिप्रायों को नाटकोचित समर्थ वाणी दी है। अपने देशकाल का ऐसा मंथन और निरूपण, ऐसा समय बोध और उससे उपजे आक्रोश, हताशा, असंतोष को सच्चे अर्थों में और सहजता से कह जाना आसान काम नहीं होता है।"

भारत में रंगमंच-कला ने अपने प्रारंभ से वर्तमान तक कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। भारतीय रंगमंच का आधार भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' बना। इसके अलावा भारतीय रंगमंच ने यूनान और रोम के रंगमंचों से भी कुछ सकारात्मक तत्वों को अपने में समाहित किया। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने लेख नाटक में इसकी विवेक चर्चा की है। कालिदास, शूद्रक, भास, भवभूति के साथ शेक्सपीयर, काफ़्का, चेखव आदि से प्रभावित भारतीय रंगमंच अपनी सशक्त क्षमता के साथ दृढ़ता से आज भी खड़ा है। समाज, राजनीति और आधुनिकता के विकास के साथ-साथ भारतीय रंगमंच में भी नए आयाम जुड़े। बाद के वर्षों में भारतीय रंगमंच में जहाँ एक ओर महिलाओं की भागीदारी, रंगमंच की सोच गंभीर हुई वहीं दूसरी ओर इसके माध्यम से सांप्रदायिकता, आंतकवाद, बाजारवाद और वैश्वीकरण जैसे मुद्दों को भी उठाया जाने लगा। इस तरह रंगमंच ने प्रगतिवादी सोच के साथ भाषा, संस्कृति और समाज के सार्थक अनुवाद का प्रयास किया।

4.8 रंगमंच और सिनेमा का तुलनात्मक अध्ययन

समाज, संस्कृति और सभ्यता का कलात्मक रूपांकन ही रंगमंच और सिनेमा का मूल उद्देश्य है। परंतु यह प्रश्न उठ सकता है कि समाज में आज नाटक के अस्तित्व में होने के बावजूद सिनेमा अधिक प्रभावी माध्यम क्यों दिखता है? शायद इस प्रश्न का प्रत्यक्ष उत्तर मनुष्य की चेतनाशीलता और इच्छा के विकास के अतिरिक्त प्रौद्योगिकी और कौशल के विकास में दृष्टिगोचर होता है।

रंगमंच और नाटक के बीच का मूल अंतर कलात्मक मौलिकता के आधार पर तय होता है। मनोहरश्याम जोशी इस संदर्भ में लंबी चर्चा करते हैं। वे मानते हैं कि रंगमंच में कलात्मक मौलिकता उसकी जीवंत अनगढ़ता में प्रत्यक्ष होती है, वहीं सिनेमा में इसका प्रयोग आधारभूत सामग्री के रूप में किया जाता है। सिनेमा में मनोभाव और प्रस्तुतीकरण के विभिन्न विकल्पों की गुंजाइश होती है, जबकि कोई भी फिल्म दर्शकों तक पहुँचने से पहले उच्च तकनीक से संपन्न कैमरे से होकर गुजरती है। परन्तु नाटक में दर्शक और पात्र के बीच कुछ भी नहीं होता। सिनेमा में बार-बार परख और परिष्कार की गुंजाइश होती है जबकि रंगमंच अपनी जीवंत मौलिकता से ही कलात्मकता के नए मानदंड रचता है। फिल्म और टी.वी. में रंगमंच की तरह नाटक दर्शकों के सामने नहीं, एक कैमरे के सामने खेला जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जो एक बार खेल दिया जाता है, वह हमेशा के लिए दर्ज हो जाता है। तीसरी और सबसे अहम बात यह है कि दर्शकों के प्रतिनिधि बने हुए कैमरों पर रंगमंच के दर्शक की तरह यह रोक नहीं होती कि वह अपनी ही सीट पर बैठ कर तमाशा देखे। रंगशाला में आगे से आगे वाली सीट पर बैठे हुए दर्शकों और मंच पर खड़े पात्रों के बीच भी हमेशा एक दूरी बनी रहती है। लेकिन सिनेमाघरों में बैठे दर्शकों के लिए कैमरा यह दूरी मिटा देता है। सिनेमा तकनीक और प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर वह हृद् मात्र में दृश्यगत छूट ले सकता है। परन्तु रंगमंच की विशेषता ही यह है कि वह तकनीकी के अल्प प्रयोग के बावजूद दर्शकों पर विशिष्ट छाप छोड़ जाता है। साथ ही रंगमंच की यह सीमा भी होती है कि उसमें बहुत बड़ी-बड़ी चीजें नहीं दिखाई जा सकतीं। भव्य से भव्य मंच पर पानीपत की लड़ाई या एवरेस्ट विजय या सागर में टाइटेनिक जहाज का डूबना जैसा दृश्य नहीं दिखाए जा सकते। वहीं सिनेमा के कैमरे से जहाँ छोटी-छोटी चीजों को दिखाया जा सकता है, वहीं बड़ी-से-बड़ी चीज को भी। एक तरह से किसी फिल्म की यह खासियत होती है कि उसमें घटना स्थल बड़ी तेजी से बदलता रहता है।

सत्यजीत रे फिल्म-निर्माण की प्रक्रिया पर चर्चा करते हुए फिल्म, साहित्य, मूल कथा और पटकथा जैसे विषयों पर गंभीरता से विचार करते हैं। एक स्थान पर वे रंगमंच और फिल्म के भेद को इस प्रकार बताते हैं- “रंगमंच और फिल्म एकदम भिन्न चीजें हैं। रंगमंच में रीतियों का पालन आसानी से हो जाता है क्योंकि आपके पास तीन दीवारें और एक छत है, आपके पास एक ‘प्रोसेनियम’ (पर्दे और मंच के बीच का वह हिस्सा जहाँ ऑर्केस्ट्रा होती है) है। एक शैलीगत रूप के साथ शैलीगत संवाद, शैलीगत भावमुद्राएँ, शैलीगत सेंटिंग सब कुछ है। लेकिन फिल्म को रंगमंचीय रूप का पुनः निर्माण क्यों करना चाहिए? मैं उसकी कोई सौंदर्यात्मक जरूरत महसूस नहीं करता, सिर्फ किसी तरह के रियाज के रूप में ही वह हो सकता है।” रे सिनेमा को एक यथार्थवादी माध्यम मानते हैं। वे मानते हैं कि सिनेमा यथार्थ के अत्यंत करीब होता है। वे इसमें संकुचन या किसी तरह का खिंचाव नहीं देखते। लेकिन वे मानते हैं कि रंगमंच में एक निश्चित तनाव होता है जहाँ रीतियों को स्वीकार करना पड़ता है। इन सब सीमाओं के साथ हम इस तथ्य को स्वीकार करने को बाध्य होते हैं कि कुछ तकनीकी, भावात्मक, शैलीगत भिन्नताओं के बावजूद रंगमंच और सिनेमा का मूल उद्देश्य एक ही है - भाषा, समाज और संस्कृति को सामयिक संदर्भों में अनूदित करना और नए संदर्भों में अपने को संप्रेषित करना।

4.9 सारांश

आपने इस पाठ में सिनेमा और रंगमंच के विकास और उसमें अनुवाद की भूमिका से परिचय किया। इसमें आपने पढ़ा कि :

- सिनेमा किस प्रकार दृश्य-श्रव्य माध्यम का संयोजित प्रतिनिधित्व करता है।
- किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर सिनेमा विकास के पथ पर अग्रसर हुआ।
- सिनेमा किस तरह से भाषा, समाज और संस्कृति के अनुवाद का प्रयास करता है।
- इसके अलावा आपने रंगमंच की अवधारणा का परिचय प्राप्त किया।
- रंगमंच की विकास यात्रा में उसके विभिन्न चरणों के महत्व को जाना।
- रंगमंच और अनुवाद के अतर्संबंधों से परिचित हुए।
- रंगमंच और सिनेमा में क्या विविधताएँ और अंतर हैं, इससे भी अवगत हुए।

4.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. सिनेमा के विकास का विवेचन कीजिए।
2. सिनेमा और अनुवाद के संबंध पर प्रकाश डालें।
3. रंगमंच और सिनेमा की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. रंगमंच और सिनेमा के विकास में आधुनिक साहित्य की भूमिका पर टिप्पणी लिखें।
5. रंगमंच और अनुवाद का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

4.11 शब्दावली

सेल्यूलाइड :

किनोटोस्कोप :

साइन-संकेतक :

4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रोजर टी. बेल, “ट्रांसलेशन ऐन्ड ट्रांसलेटिंग : थ्योरी ऐन्ड प्रैक्टिस”, पहला संस्करण, लौंगमैन ग्रुप यू के, लंदन, 1991।

सुसान बैसने-मैक ग्वायर, “ट्रांसलेशन स्टडीज”, संशोधित संस्करण, रूटलेज, लंदन, 1991

ऋत्तिक घटक, “सिनेमा ऐन्ड आई”, ऋत्तिक मेमोरियल ट्रस्ट, रूपा ऐन्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1987.

जॉर्ज ब्लूस्टोन, “नॉवेल इन्टू फिल्मस”, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस, बर्कली, 1957.

सुसान के. लैंगर, “फीलिंग्स ऐन्ड फॉर्म”, पहला संस्करण, रूटलेज ऐन्ड केगन पॉल, लंदन, 1953.

“माक्स-ऐन्जिल ऑन लिटरेचर ऐन्ड आर्ट्स”, प्रोग्रेस पब्लिकेशन, मॉस्को, 1976.